ॐ श्री परमात्मने नमः

सप्तदश अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता का सोलहवां और सत्रहवां अध्याय परिशिष्ट के रूप में है। पन्द्रहवें अध्याय तक भगवान के अध्यातम ज्ञान का उपदेश पूर्ण कर कहा था- 'इति गुह्यतमं शास्त्रं इदमुक्त मयानघ।' गुह्यतम ज्ञान पूर्ण हो गया था। लेकिन इसके बाद भी भगवान ने कहना बंद नहीं किया क्योंकि उन्हें तो उस गुह्यतम विद्या, उस परम ज्ञान को हम साधारण से साधारण मनुष्यों के स्तर तक उतार कर समझाना था। हमारा दैनिक जीवन, हमारा व्यवहार, हमारी दिनचर्या सभी ऐसे हों कि हम परम ज्ञान के अधिकारी बन सकें यह बिल्कुल स्पष्ट कर देने कि लिए उन्होंने सोलहवां और सत्रहवां अध्याय रचा। सोलहवें अध्याय में उन्होंने दैवी और आसुरी प्रवृत्ति का उल्लेख किया। उसमें उन्होंने शुभ वृत्ति की ओर हमारा ध्यान खींचा और अब सत्रहवें अध्याय में शुभ कृति बतला रहे हैं। पहले अपने विचारों को पवित्र करें फिर व्यवहार को उत्तम बनाएं, यही संदेश है उनका।

विनोबा भावे इस अध्याय को कार्यक्रम योग का नाम देते हैं। उनका कहना है कि गीता इस अध्याय में साधक के लिए रोज के कार्यक्रम की सूचना देती है। वे कहते हैं कि मनुष्य के साथ तीन संस्थाएं चलती हैं। इन तीनों का कार्य भलीभांति चलाना है ताकि हमारा जीवन सुखमय बन सके। पहली संस्था है हमारा शरीर, दूसरा है हमारा समाज और तीसरी है सृष्टि। हम रोज इन तीनों संस्थाओं का उपयोग कर इन्हें छिजाते हैं अतः इनकी पूर्ति के लिए कार्य करना हमारा कर्त्तव्य है जो हमें निरहंकार भाव से करना चाहिए और इसके लिए सम्पूर्ण निर्देश इस अध्याय में दिए गए हैं। शरीर के लिए तप है, समाज के लिए दान है और सृष्टि के लिए यज्ञ, जिनके विभिन्न भेद इस अध्याय में भगवान ने बताए हैं। ये सारे कार्य साधना तब बनेंगे जब हम उन्हें ईश्वर के अर्पण करेंगे। इसके लिए इस अध्याय के अंत में ॐ तत्

सत् प्रकरण आया है। इस प्रकार हमारा दैनिक जीवन और साधना दो भिन्न कार्य नहीं रह जाते।

सोलहवें अध्याय के अंत में भगवान ने कहा कि जो शास्त्र विधि का त्याग करके अपने मन की इच्छा के अनुसार जो जी चाहे करता है उसे अपने कर्मों का फल नहीं मिलता। सिद्धि के लिए किए गए कर्म से सिद्धि नहीं मिलती, सुख के लिए किए गए कर्म से सुख नहीं मिलता और परम गति तो मिलती ही नहीं। अतः कामना को त्याग कर यानी निष्काम भाव से शास्त्र के विधान के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।

इससे अर्जुन के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। हम अपनी काम पूर्ति के लिए शास्त्रों की अवहेलना करें, यह तो बुरी बात है सो समझ में आती ही है, पर अनेक लोग ऐसे भी तो होते हैं जिनकी शास्त्रों में, शुभ कर्मों में, पवित्र जीवन में श्रद्धा होती है पर विधि को न जानने या उस पर विशेष ध्यान न देने अथवा अन्य परिस्थितियों वश शास्त्र वचनों का पालन करते नहीं? उनकी क्या स्थिति होगी? अर्जुन ने जिज्ञासा प्रकट की जिससे सतरहवें अध्याय का शुभारम्भ होता है।

बहुधा ऐसा होता है कि प्रश्नकर्ता अपनी समझ में तो एक साधारण सा प्रश्न करता है। उसे पता भी नहीं होता कि उसमें इतनी जटिलता हो सकती है लेकिन जिसे उस विषय की जानकारी होती है वह उसका उत्तर अत्यन्त विस्तार में सभी बारीकियों के साथ देने लगता है। जैसे कोई बालक अपने पिता से पूछे कि आकाश में पानी कहां से आ जाता है और उसका पिता अगर भौतिकी का अध्यापक है तो केवल वर्षा के जल के विषय में बता कर नहीं छोड़ देता, वह ओस, कोहरा और हिमपात के विषय में भी बताने लगेगा। भगवान भी इस अध्याय में श्रद्धा के विभिन्न रूपों के विषय में बताते हैं और अश्रद्धा की स्थिति भी बताते हैं। आइए हम पूर्ण श्रद्धा के साथ पार्थ सारथि भगवान श्री कृष्ण को नमन करते हुए इस अध्याय में प्रवेश करें।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधि को त्याग कर श्रद्धा से युक्त होकर कर्म करते हैं उनकी स्थिति कौन सी है? सात्विकी है अथवा राजसी या तामसी?

चौदहवें अध्याय में भगवान ने सात्विकी, राजसी और तामसी स्थितियों के विषय में बताया था, उनकी गति बताई थी कि सात्विक पुरुष को उच्च गति प्राप्त होती है, तामसी को निम्न। फिर सोलहवें में बताया कि काम के वश में होकर जो शास्त्र विधि का त्याग कर कर्म करते हैं उसे सिद्धि, सुख और परमगति, कुछ भी नहीं मिलता।

यहां अर्जुन ने शास्त्रविधि त्याग की बात जो पूछी है उसमें और भगवान की बात में अन्तर है। भगवान ने वर्तते कामकारतः कहा था। अर्जुन ने यजन्ते श्रद्धयान्विताः पूछा है। जो काम के वश में होगा वह तो जानबूझ कर या विरोधपूर्वक शास्त्र विधि का त्याग करता है। किन्तु जिनके हृदय में श्रद्धा होगी वह विरोध या अवहेलना नहीं करेगा। परिस्थिति और वातावरण की प्रतिकूलता, अवकाश का अभाव या बारीकियों को महत्व न देने की प्रवृत्ति अथवा अज्ञान आदि अनेक कारण होते हैं जिसके कारण हम प्रायः शास्त्र विधि का त्याग कर देते हैं। निश्चित रूप से हमें जानना चाहिए कि इसका क्या फल होगा। अर्जुन का यह प्रश्न हम सब के लिए उपयोगी है।

लेकिन यदि इस प्रश्न को बारीकी के साथ समझना है तो विभिन्न प्रकार के मनुष्यों की स्थिति समझनी होगी। ये निम्न है-

१. जो शास्त्र विधि का पालन भी करते हैं और जिनमें श्रद्धा भी है। यह तो सर्वोत्तम स्थिति है ही जो मोक्ष के मार्ग पर हमें ले जाएगी। इसके विषय में तो प्रश्न या संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं।

२. जिनमें श्रद्धा भी बिलकुल नहीं और शास्त्र विधि का पालन भी नहीं करते। ये आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति हैं जिन्हें अधम गति की प्राप्ति होती है यह भी हम स्पष्ट जानते हैं।

३. जो शास्त्र विधि के अनुसार कर्मकांड कर तो लेते हैं थोड़ा बहुत, किन्तु उनमें श्रद्धा नहीं होती।

४. जो शास्त्र विधि का पालन तो नहीं करते पर श्रद्धा रखते हैं।

५. जो शास्त्रों के प्रति विरोध का भाव रखते हैं।

इन विभिन्न विभागों के और उपविभाग भी हैं जिनमें से प्रत्येक का विवेचन भगवान गीता में करते हैं।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।२।।

श्री भगवान बोले- मनुष्यों की वह (शास्त्रीय संस्कारों से रहित) केवल स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा सात्विकी, राजसी और तामसी- ऐसे तीनों प्रकार की होती है। उसको तू मुझसे सुन।

जब हम शास्त्रों का अध्यन-मनन करते हैं या गुरु से उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं तो हमारे मन में निश्चित रूप से श्रद्धा का उदय होता है। यह शास्त्रों से उत्पन्न श्रद्धा है जिसे शास्त्रजा कहते हैं। इससे भिन्न दूसरी श्रद्धा स्वभाव से उत्पन्न यानी स्वभावजा कहलाती है। हम जिस वातावरण में पलते-बढ़ते हैं उसके संस्कार हम पर पड़ते हैं। हम सत्संग-कुसंग आदि की अनेक बातें अपने माता-पिता तथा अन्य जनों से सुनते हैं। किन्तु सभी बातें सभी मनुष्य समान रूप से ग्रहण नहीं करते। जिसकी जैसी प्रवृत्ति होती है उसी के अनुसार वह बातों को पकड़ता है और यह मनुष्य की प्रवृत्ति के अनुसार सात्विकी, राजसी और तामसी तीनों प्रकार की हो सकती है। भगवान इन तीनों प्रकार की श्रद्धा और उनके बाह्य स्वरूप तथा उनकी स्थिति के विषय में अलग-अलग बताएंगे।

श्रद्धा सबमें होती है। साधारणत: श्रद्धा को हम परमार्थ से जोड़ कर देखते हैं। श्रद्धा का अर्थ ईश्वर में विश्वास, गुरु वचनों में आस्था और शुभकार्य करने की भावना समझते हैं जिससे हमारा कल्याण होगा। इनके विषय में हम अपने स्वभाव के अनुसार धारणा बनाते हैं। एक बच्चा जब छोटा रहता है, खिलौने, टाफी आदि की मांग करता है तो उसी समय देखता है कि यह सब पैसे से मिलता है। तभी से उसके मन में यह धारणा बैठ जाती है कि

पैसे के बिना कल्याण नहीं होने वाला। इस प्रकार वह जी जान से ऐसे कर्मों का ही चिंतन करता है जिससे धन कमाया जा सकता है। इसके लिए शास्त्रों का उल्लंघन करता है यानि नैतिक मूल्यों की उपेक्षा कर देता है पर नैतिक मूल्यों के प्रति उसके हृदय में आदर नहीं, ऐसी बात नहीं होती। वह साधु-संतों का सम्मान करता है, स्वयं शास्त्र विधि का पालन भले न करे। इस प्रकार के स्वभाव और व्यवहार का कारण यह है कि वह समझता है कि उसका कल्याण धन बिना नहीं हो सकता। यह राजसी श्रद्धा है। वहीं उसका छोटा भाई भी है। उसने पैसे के महत्व को बचपन से देखा पर साथ ही उसने धनवानों को अ-सुखी भी देखा अत: उसकी श्रद्धा यह नहीं कहती कि पैसे के बिना कल्याण नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी-अपनी मूल प्रकृति के अनुरूप हम समाज और परिवेश से संवेदनाएं एकत्र कर लेते हैं और धारणाएं बना लेते हैं। यही स्वभावजा श्रद्धा है जो सात्विकी, राजसी, तामसी तीनों प्रकार की हो सकती है। इनका अलग-अलग विस्तार भगवान बताएंगे।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।३।।

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्त:करण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है वह स्वयं भी वही है।

सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्त:करण के अनुरूप यानी उनके स्वभाव के अनुसार होती है यह बात तो हमने पिछले श्लोक में भी देखी। यहां भगवान एक बात और कह रहे हैं कि सभी पुरुष श्रद्धामय हैं। पुरुष ही क्यों, पशु-पक्षी में भी एक सीमा तक हम देखते हैं कि वे किसी न किसी को अपने से बड़ा अवश्य मानते हैं, उसका सहारा चाहते हैं। अपने से बड़ा मान कर सहारा लेना ही ईश्वरवाद है। हम संसार में किसी को भी अपने से बड़ा समझ लें, उससे से भी बड़ा कोई दूसरा व्यक्ति हमें नजर आ सकता है। उससे भी बड़ा, उससे भी बड़ा, देखते-देखते अंत में जहां समाप्ति हो

जाए वही ईश्वर है जिसमें सात्विकी पुरुषों की श्रद्धा होती है।

राजसी और तामसी व्यक्तियों की दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती, किन्तु श्रद्धा उनमें भी होती है, वे भी किसी न किसी को अपना आदर्श मान कर उस जैसा बनना चाहते है। जैसे कोई हेनरी फोर्ड को अपना आदर्श मानता है वह समझता है कि जिस प्रकार फोर्ड अपनी मेहनत, लगन और सूझबूझ के बल पर एक साधारण बालक से बढ़ कर संसार के सर्वाधिक धनपतियों में से एक बन गया उसी प्रकार मैं भी बन जाऊं। यह राजसी श्रद्धा है और भगवान कहते हैं कि जिसकी श्रद्धा होती है वह स्वयं भी वैसा ही होता है। हेनरी फोर्ड में श्रद्धा रखने वाला निश्चित रूप से कर्मठ होगा।

इसी प्रकार तामसी व्यक्ति भी श्रद्धायुक्त होते हैं। ऐसे लोगों की कमी नहीं जो नटवर लाल या हर्षद मेहता को अपना आदर्श मानते हैं। जमाना लाख बुरा कहे, वे तो उनके प्रति प्रशंसा से पूरित रहते हैं और उनकी तरह बनने की ही तमन्ना रखते हैं। यह तामसी श्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा वाला व्यक्ति निश्चित रूप से छोटी-मोटी ठगी और धोखाधड़ी से तो अपने जीवन की शुरुआत करेगा ही।

मूलतः श्रद्धा शब्द का अर्थ हम सात्विकी या परमार्थिक दृष्टिकोण से ही लेते हैं पर श्रद्धा पर थीसिस लिखने वाला तो इसके उत्कृष्टतम से लेकर निकृष्टतम तक सभी स्वरूपों का विश्लेषण करेगा ही।

अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्यों की पहचान कैसे की जाए कि वह कैसी श्रद्धा वाला है। भगवान कहते हैं-

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।४।।

सात्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजसी पुरुष यक्ष और राक्षसों को और जो तामस पुरुष हैं वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।

श्रद्धा तो अन्तरंग होती है लेकिन श्रद्धा के अनुरूप किया जाने वाला कर्म बहिरंग। इसी कर्म को हम पूजन कह सकते हैं और कौन किसे पूजता

है इसी से पता चल जाएगा कि श्रद्धा किसमें है अर्थात् कैसी है।

जो सात्विक प्रकृति वाले होते हैं वे तो उन्हें पूजते हैं जिन्हें हम देवता कहते हैं। कोई भी व्यक्ति स्वयं कैसा भी हो, देवता उस व्यक्ति को नहीं कहेगा जो धनवान तो है पर झूठा और फरेबी है। सत्य पर चलने वाले, परोपकार की भावना रखने वाले को ही हम कहते हैं- वह तो देवता है और उन्हें प्रणाम करने वह व्यक्ति कदापि नहीं जाएगा जिसका आदर्श नटवर लाल है।

इसी प्रकार राजसी श्रद्धा वाले पुरुष यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं। यक्ष कुबेर के परिकर माने जाते हैं अर्थात् वे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं और राक्षस वे हैं जो शारीरिक शक्ति से सम्पन्न हैं। कुल मिलाकर इसे माफिया गठबन्धन कहा जा सकता है। राजसी श्रद्धा वाले धन और भोगमय जीवन में रुचि रखते हैं अतः स्वाभाविक रूप से वे अपना काम बनाने के लिए उनकी जी हुजूरी करेंगे जिनके पास धन या बल है।

तामसी श्रद्धा वाले प्रेत और भूतों को पूजते हैं। प्रेत और भूत का अर्थ है अधम कोटि के जीव जिन्हें दूसरों को सताना पसन्द है जो श्मशान जैसी जगहों पर विचरण करते हैं यानि उन स्थानों पर जहां आम शरीफ आदमी जाते हुए घबराता है। आधुनिक काल में गुण्डे, चोर, तस्कर और नशेड़ियों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इनसे जो मित्रता करता है, इन्हें जो बॉस समझता है, समझ लें वह तामसी श्रद्धा वाला है।

इस प्रकार भगवान ने ऐसे व्यक्तियों के तीन विभाग कर के बताए जो शास्त्र वचनों का पालन तो नहीं करते पर किसी न किसी प्रकार की श्रद्धा अवश्य रखते हैं। अब अगले दो श्लोकों में भगवान ऐसे व्यक्तियों के विषय में बताएंगे जो घोर कर्म करते हैं, पर न तो उनमें श्रद्धा होती है न वे शास्त्रों का पालन करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ता कामरागबलान्विताः ।।५।।
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।६।।

जो मनुष्य शास्त्रविधि से रहित (केवल मनः कल्पित) घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं-

जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं उन अज्ञानियों को तू असुर स्वभाव वाला जान।

तप का अर्थ है शारीरिक कष्ट सहन करना । किसी भी कार्य, चाहे वह परमार्थिक हो या लौकिक, उसे पाने के लिए कुछ कष्ट तो सहना ही पड़ता है। चोरों को भी अपने कार्य की सिद्धि के लिए रातभर जागना पड़ता है, मेहनत करनी पड़ती है। यह उनका तप ही है। भिखारी को भी भीख मांगने के लिए चिलचिलाती धूप में भी सड़क पर बैठना पड़ता है। वह भी तप ही है। साधारणतः तपस्वी हम उसको कहते हैं जो भगवान को पाने के लिए तप करता है किन्तु इस अध्याय में तो भगवान अश्रद्धा की श्रेणी में गिनी जाने वाली श्रद्धा का भी विवेचन कर रहे हैं अतः यहां ऐसे तप की भी बात बता रहे हैं जिसके पीछे न तो शास्त्र सम्मति है न अपने कल्याण की भावना ।

अपनी कामना या आसक्ति के वशीभूत हो कर दिखावे के लिए अपना बड़प्पन प्रदर्शित करने के लिए घोर कष्ट उठाने वाले व्यक्ति समाज में बहुत मिल जाएंगे। कोई कुम्भ के मेले में अपने आप को बड़ा तपस्वी साबित करने के लिए कांटों पर सोया रहता है, कोई असहनीय गर्मी में चारों ओर आग जलाकर समाधि लगाता है। उनका यह तप इसलिए नहीं होता कि ऐसा करना हमारे ऋषियों, महात्माओं, गुरुजनों ने बताया है, इसे करने से हमारा मानव जीवन सफल होगा। वे तो केवल दूसरों पर रोब जमाने, उन्हें ठगने के लिए पाखंड रचते हैं। उनके मन में यही भावना होती है कि दूसरों को बता दें कि हमारे अंदर अपार बल है, सिद्धि है, हम जो चाहे कर सकते हैं। इसीलिए भगवान उनके तप को दम्भाहंकार संयुक्ता बता रहे हैं।

भगवान ने स्पष्ट फैसला सुना दिया है- ऐसे लोगों को तुम पक्के तौर पर असुर जानो। जो लोग इन सिद्ध बाबाओं के चक्कर में पड़ते हैं, उनके

पास जाकर माथा टेकते हैं, यह समझते हैं कि वे उन्हें पुत्र देंगे, बाबाजी के आशीर्वाद से धनवान बनना चाहेंगे, लोहे का सोना बनने की आशा रखेंगे उनके लिए गीता में यह बिल्कुल स्पष्ट निर्देश है- भगवान स्वयं कह रहे हैं कि ये असुर हैं। असुरों के पास जाने से कभी किसी का भला नहीं होता।

भगवान को बड़ी शिकायत है उनसे। वे कहते हैं कि घोर तप करने वाले ये बाबा लोग अपने शरीर को कृश करते है और शरीर में स्थित मुझ परमात्मा को भी तकलीफ पहुंचाते हैं। ईश्वर ने यह सृष्टि रची है, पेड़ पौधे, फल-फूल बनाए, सूर्य, चन्द्र, तारे, पवन और जल की रचना की, हमें नाना प्रकार की क्षमताओं से युक्त यह सुंदर तन दिया- इसलिए कि इनका सदुपयोग हो। सृष्टि में सभी समन्वय के साथ रह सकें। जब हम इस नर तन का दुरुपयोग कर दूसरों को सताते हैं तब तो भगवान को दुख होता ही है, जब हम इस तन की क्षमताओं का समुचित उपयोग नहीं करते तब भी उन्हें कष्ट होता है। यह शरीर न अनावश्यक रूप से मोटा ताजा करते रहने के लिए मिला है न व्यर्थ सुखा डालने के लिए। हमारे कर्म के पीछे विवेक होना चाहिए, हमारा हर कर्म समन्वित होना चाहिए। समता को ही गीता में सर्वोच्च स्थान दिया गयाा है। **'समत्वम् योग उच्यते'** समत्व को ही योग बताया गया है।

इस प्रकार हर प्रकार कर श्रद्धा-कुश्रद्धा का विवरण और उनके ध्येय बताने के बाद भगवान अब हमारे दैनिक कार्यक्रम पर आते हैं-

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।।७।।

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेद को तू मुझसे सुन।

हमारा अपना शरीर, हमारा अपना समाज और यह सम्पूर्ण सृष्टि- ये तीन ही तत्व हैं जिनमें किसी न किसी के लिए हम दिनभर कुछ न कुछ करते हैं। गीता भी हमारी दैनिक क्रियाओं को ही पवित्र बनाने पर बल देती है, हमारे कर्मों को ही इतना उत्कृष्ट बनाना चाहती है कि वे कर्म योग यानी

ईश्वर प्राप्ति के साधन बन जाए अतः भगवान इन तीनों तत्वों से संबधित विभिन्न क्रिया कलापों का विवेचन करेंगे। जिस प्रकार श्रद्धा तीन प्रकार की होती है उसी प्रकार तीनों के आदर्श अलग-अलग बताए उसी प्रकार उनके कर्म भी अलग-अलग होंगे।

पहला तत्व है हमारा शरीर। इससे संबंधित दो क्रियाएं हैं- पहला आहार जिससे हम शरीर को पुष्ट करते हैं, दूसरा तप जिसमें हम शरीर का उपयोग करते हैं। भगवान बताते हैं कि आहार और तप के भी विभिन्न भेद हैं जिनका वर्णन वे करेंगे।

दूसरा तत्व है समाज। समाज से प्रतिदिन हम कुछ न कुछ लेते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारा जीवन समाज के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहता है इससे कुछ लेने के लिए हमें मांगने जैसी क्रिया की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। विद्यालय, अस्पताल आदि तो स्पष्ट दिखलाई देने वाली देन है समाज की, किन्तु इनके अलावा परोक्ष रूप से समाज का बहुत बड़ा ऋण है हम पर। हम जिस सड़क पर गाड़ी दौड़ाते है वह हमारी नहीं, हमारे समाज के मजदूरों की बनाई हुई होती है, जिसे इस मेहनत के बदले पेट भर दाल-भात भी नसीब नहीं हो पाता। ऐसे समाज के लिए कुछ करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रत्युपकार के लिए हम भी समाज के लिए जो कुछ भी करते हैं उसके प्रतीक के रूप में यहां दान शब्द का व्यवहार किया गया है। हम दान देते हैं तो समझते हैं हमने उपकार किया। पर बात ऐसी नहीं है। हमने तो पहले ही ऋण लिया हुआ है। दान द्वारा तो हम इस भार को कुछ हल्का करते हैं बस। हममें से ऐसा कोई भी नहीं जो कुछ दान अर्थात् किसी न किसी रूप में समाज के लिए कुछ नहीं करता। लेकिन अपनी प्रकृति के अनुसार लोगों के अलग-अलग प्रकार के दान भी भगवान आगे बताएंगे।

तीसरा और विशालतम तत्व है सृष्टि। प्रकृति हमारी आवश्यकता की वस्तुओं का अथाह भंडार है। हम इनका उपयोग करते हैं तो प्रकृति में छीजन आती है, प्रकृति प्रदूषित होती है इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि इस छीजन की पूर्ति के लिए कुछ न कुछ करें। यही यज्ञ कर्म है। गीता के तीसरे अध्याय में यज्ञ कर्मों का बड़ा सुन्दर वर्णन है और भगवान ने यज्ञ के अर्थ को हवन की क्रिया तक सीमित न रखकर बड़ा व्यापक बना दिया है। विभिन्न प्रवृत्ति

वाले व्यक्ति अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार विभिन्न प्रकार के यज्ञ कर्म करना चाहते है। इन्हें भी सात्विक राजसी और तामसी इन तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है।

सर्वप्रथम त्रिविध आहार के विषय में बताते हुए भगवान कहते हैं-

आयु:सत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।८।।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदाः ।।९।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।१०।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रस युक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय- ऐसे आहार सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कड़वे, खट्टे, लवण युक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुख, चिंता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजसी व्यक्ति को प्रिय होते हैं।

अधपका, रस रहित, दुर्गन्ध युक्त, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र- ऐसे भोजन तामस पुरुष को प्रिय होते हैं।

उपर्युक्त तीन श्लोकों में भगवान ने सात्विक, राजसी और तामसी पुरुषों को प्रिय लगने वाले आहारों का वर्णन किया है। 'जैसा आहार वैसा व्यवहार' यह बात सही है पर हम कभी-कभी इस उक्ति का भ्रामक अर्थ ले लेते हैं। हम समझते हैं कि आहार पवित्र रखने से ही हमारा व्यवहार पवित्र हो जाएगा। हम सात्विक भोजन खाएंगे तो हम सात्विक पुरुष होंगे। यह धारणा बना कर कुछ लोग विशिष्ट आहार के प्रति इतना कड़ा रुख अपना लेते हैं कि और कुछ नहीं तो आहार के पीछे वे कितनी पेचीदगियों को जन्म देकर राग द्वेष युक्त हो जाते हैं। यहां ध्यान दे कि भगवान् ने ऐसा नहीं कहा कि

अमुक भोजन करने से व्यक्ति सात्विक हो जाता है। वे तो कह रहे हैं कि अमुक भोजन सात्विक पुरुष को प्रिय होता है, उसके सहज स्वभाव के अनुरूप होता है।

सात्विक प्रकृति के पुरुषों की रुचि न भोगों में होती है न प्रमाद में। वह शरीर को साधना का उपकरण मानता है अत: उसे पुष्ट और स्वस्थ रखना चाहता है। स्वस्थ रखना तो राजसी पुरुष भी चाहते हैं पर उसके लिए रसना को चाट से वंचित रख नहीं पाते। वर्तमान में भोग उनके लिए भविष्य में स्वास्थ्य से ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह स्वाभाविक प्रकृति ही है उनकी। अधिक तबीयत बिगड़ जाने पर वे पुष्टिवर्धक पथ्य लेते भी हैं तो अपनी रुचि के प्रतिकूल जाना पड़ता है उन्हें। इसी प्रकार तामसी पुरुषों को तो स्वास्थ्य और स्वाद से भी ज्यादा प्रिय यह बात मालूम देती है कि उन्हें विशेष मेहनत न करना पड़े। सोए सोए ही खाना मिलता रहे चाहे वह जो भी हो। इस प्रकार तीनों प्रकृति के पुरुष तीन विभिन्न प्रकार के आहार पसन्द करते हैं।

सात्विक पुरुष की स्वाभाविक रुचि ऐसे पदार्थों में होती है जो शरीर को पुष्टि और आरोग्य प्रदान करे। हमारे शरीर के लिए जो आवश्यक पोषक तत्व हैं वही वह लेना चाहेगा अत: उसे रसयुक्त, स्नेह युक्त पदार्थ प्रिय होंगे। जल्दी सड़ने, खराब होने वाली वस्तुएं वह नहीं लेना चाहेगा। ऐसे आहार से शरीर में तकलीफ हो तो हम चिड़चिड़े हो जाते हैं जिससे आपसी व्यवहार में कटुता आ जाती है किन्तु सात्विक आहार परस्पर प्रेम बढ़ाने में सहायक होगा। राजसी व्यक्ति भोगप्रिय होता है अत: उसे चटपटा और विभिन्नताओं वाला आहार पसन्द है। समरस भोजन उसे उबाऊ लगता है। खूब तेज मिर्च वाला भोजन खाया, फिर खट्टा लिया, फिर गर्मा गरम चाय पी, पकौड़े खाए तब उन्हें लगता है कि छुट्टी का दिन मजेदार गुजरा। ऐसे भोजन रोग शोक के कारण बन जाते हैं। तामसी को तो वही भोजन प्रिय होगा जिसके लिए उसे अधिक हिलना डुलना न पड़े। आधा कच्चा, आधा पक्का, बासी, जूठा या दुर्गन्धयुक्त जो भी हो, ऐसा हो कि खा-पीकर मौज से पड़े रहें। नशा, शराब आदि इसलिए उन्हें विशेष प्रिय होते हैं कि उनके सेवन के पश्चात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य का जो थोड़ा बहुत भान होता है वह भी लुप्त हो जाता है और वे मस्ती से जी पाते हैं।

स्मरण रहे कि भगवान इस पूरे अध्याय में अपनी ओर से नहीं कहते कि यह करो यह न करो। उन्होंने तो हमारे विवेक को जाग्रत कर दिया है अब चुनाव हमारे हाथ में है।

भोजन के तीन भेद बताने के बाद अब यज्ञ के तीन भेद बताते हुए भगवान कहते हैं –

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।११।।

शास्त्र विधि से नियत यज्ञ करना ही कर्त्तव्य है– इस प्रकार मन को समझा कर, फल न चाहने वाले पुरुषों द्वारा जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक है।

यज्ञ शब्द के अर्थ को व्यापक बनाकर गीता ने १. परस्पर सहयोग के साथ २. निज स्वार्थ और अहंकार को त्याग कर ३. लोकहित के लिए किए गए हर कार्य को यज्ञ का नाम दिया है।

यहां भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। जब भगवान सात्विक यज्ञ की बात करते हैं तो यह नहीं कहते कि वर्षा करवाने के लिए किए गए पर्जन्य यज्ञ को सात्विक कहते हैं, पुत्र प्राप्ति के लिए किए गए पुत्रेष्टि यज्ञ को राजसी कहते हैं। किस देवी या देवता की पूजा सात्विक है, या राजसी है यह भी नहीं बताते। यहां जब सात्विक यज्ञ की बात कर रहे हैं तो केवल भावनामूलक बातों की महत्ता बता रहे हैं। स्पष्ट है कि क्रिया से अधिक महत्व भावना का है। भावना बदल ले तो हर कर्म पूजा हो सकता है, हर कार्य साधना बन सकता है।

भगवान कहते हैं कि शास्त्र विधि के पालन के अलावा दो भावनाएं हैं जो यज्ञ को सात्विक बनाती हैं। एक तो फल की आकांक्षा न होना दूसरा यज्ञ करना मेरा कर्त्तव्य है यह समझना। किसी भी कर्म का फल तो अवश्य ही मिलता है और जब हम कर्म करते हैं तो निरुद्देश्य तो करते नहीं, फल पर दृष्टि तो होती ही है लेकिन फल की आकांक्षा का अर्थ अपना व्यक्तिगत

स्वार्थ है। स्वार्थ को त्याग कर लोकहित के लिए किए गए कार्य सात्विक यज्ञ की श्रेणी में आते हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है यज्ञ के प्रति कर्त्तव्य बुद्धि होना। परोपकार और कर्त्तव्य में अन्तर है। परोपकार करना पुण्य कर्म है लेकिन न करने को पाप नहीं कहेंगे, किन्तु कर्त्तव्य कर्म न करना भी पाप है। हम किसी भूखे व्यक्ति को रोटी खिलाते हैं, कुआं खुदवाते हैं, यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशाला बनाते हैं तो समझते हैं कि हमने अच्छा कार्य किया। न करते तो कोई बदनामी नहीं होती पर करने से यश मिलता है। किन्तु यदि हम अपने माता-पिता को भोजन न दें, उन्हें पानी के लिए तरसना पड़े, उन्हें रहने के लिए स्थान न मिले तो हम नीच और अधम कहलाएंगे। स्वयं भी हम में ग्लानि बोध रहेगा ही, भले हम सार्वजनिक तौर पर उसे स्वीकार न करें। माता-पिता की सेवा को हम कर्त्तव्य समझते हैं। इसी प्रकार लोक सेवा, सृष्टि की छीजन को रोकने के लिए किए जाने वाले कार्यों को भी अपना कर्त्तव्य समझें। यह न समझें कि हमने बड़ा उपकार कर दिया प्रकृति पर। पेड़ लगाकर हम यह भावना न रखें कि पड़ोसी पर उपकार कर रहे हैं। उसे हवा मिल जाएगी। पेड़ लगाना हमारा कर्त्तव्य है। हमें करना ही चाहिए। तब पेड़ लगाने का कर्म सात्विक यज्ञ बन जाएगा। सच्चे अर्थों में यज्ञ यही है।

अब राजस यज्ञ के लक्षण बताते हुए भगवान कहते हैं-

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

परन्तु हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन, केवल दम्भाचरण के लिए अथवा फल को दृष्टि में रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजसी जान।

सात्विक और राजसी कर्म में अन्तर विधान का नहीं केवल भावना का है। हम भागवत सप्ताह का आयोजन कराते हैं, अखण्ड रामायण का पाठ करवाते हैं, यदि इन आयोजनों के पीछे कोई कामना न हो, केवल यही भावना हो कि भगवन्नाम से वातावरण पवित्र हो, हमारे साथ-साथ दूसरे भी इस परम रस का आस्वादन करें तो ये आयोजन सात्विक यज्ञ है किन्तु यदि यह भावना

रहे कि अमुक ने आयोजन किया तो एक लाख रुपये खर्च किए थे, हम पांच लाख खर्च करेंगे, बहुत भव्य आयोजन करेंगे, लोग भी क्या याद करेंगे, तो यही यज्ञ राजसी हो जाएगा। या यदि हमने इस भावना से किया कि नौकरी में तरक्की हो जाए, व्यापार में वृद्धि हो जाए, लड़की की सगाई हो जाए तो भगवत् प्रेम रहने के उपरान्त भी यह यज्ञ राजसी ही कहलाएगा। यह अच्छी बात है कि हम इन अवसरों पर कॉकटेल पार्टी न कर भगवान को याद करते हैं किन्तु यह है राजसी यज्ञ। यदि हम रजस से ऊपर उठकर सत्व की वृद्धि करना चाहते हैं तो फलाकांक्षा और दम्भाचरण को निर्मूल करना होगा। अब तामसी यज्ञ के विषय में भगवान कहते है–

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१३।।

शास्त्र विधि से हीन अन्नदान से रहित, बिना मंत्रों के, बिना श्रद्धा के किए जाने वाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहते है।

हम तो ऐसे यज्ञों को यज्ञ कहेंगे ही नहीं। किन्तु भगवान् ने जैसे श्रद्धा के अन्तर्गत कुश्रद्धा का भी उल्लेख किया उसी तरह यज्ञ के अन्तर्गत कु–यज्ञ यानी तामस यज्ञ का भी वर्णन कर रहे है।

राजनेताओं के बीच तो यह यज्ञ बहुत ही प्रचलित है। उनमें न सात्विकी श्रद्धा होती है। न वे पुरुषार्थ (रजस) के बल पर कुर्सी पाने की अपेक्षा रखते है। उन्हें तो किसी भी सरल से सरल तरीके से अपने विरोधियों को मात देने की इच्छा रहती है। वे संतों की नहीं तांत्रिकों की शरण में जाते है। नाना प्रकार की अंगूठियां धारण करते हैं और उतने से भी संतोष नही होता तो उनके बताए गए तन्त्र कर्म करवाते है। इनमें पैसे जरूर खर्च होते है पर वह न तो दान होता है न दक्षिणा। दान तो किसी के प्रति प्रेम या करुणा की भावना से किया गया त्याग होता है, दक्षिणा किसी को आदर प्रदर्शित करने के लिए दी गई भेंट को कहते है। ये नेता तो सौदे करते है–'पचास हजार रुपए तो बहुत अधिक है, चालीस हजार में काम करवा दीजिए। यदि कुर्सी मुझे मिल गई तब मैं आपको मालामाल कर दूंगा।' उनके साथ इस प्रकार

की सौदेबाजी कर जो तंत्र क्रिया करता है उसके हृदय में भी श्रद्धा तो होती नहीं। न वह पूरी तरह विधि विधानों का पालन करता है। इस प्रकार ये यज्ञ विधिहीन, मंत्रहीन, दानहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धाहीन होते है जिन्हें भगवान तामसी यज्ञ का नाम देते है।

इन्हीं तामसी यज्ञों का हल्का रूप है पैसे देकर ब्राह्मणों से पाठ आदि करवाना। कुछ लोग तो व्रत भी स्वयं न कर ब्राह्मणों से करवा लेते है। दक्षिणा और सुस्वादु भोजन के लोभ से ब्राह्मण कर्म कांड करेगा तो कहां विधि होगी, कहां श्रद्धा? हम यदि सत्व की ऊंचाई तक पहुंचने की सामर्थ्य अपने में नहीं पाते, कामना का परित्याग नहीं कर पाते तो कम से कम इतना तो करें कि कामना पूर्ति के लिए जो आयोजन करवा रहे हैं उसमें अपनी श्रद्धा की सुगंध भी मिलाएं, स्वयं उसमें भागीदारी रखें और दान की भावना रखें। किन्तु यह बात भगवान नहीं कह रहे, उन्होंने तो हर प्रकार की वस्तुओं को हमारे सामने यथा रूप रख दिया है। चुनाव हमारे ऊपर है।

इस प्रकार तीनों प्रकार के यज्ञ का वर्णन करने के बाद वे तीन प्रकार के तप बताएंगे पर पहले तप के स्वरूप का वर्णन करते है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।१४।।

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।

इस श्लोक में भगवान ने जिन कर्मों को गिनाया है वे शारीरिक स्तर पर ही समझे जाने चाहिए। गीता में हर स्थान पर शारीरिक क्रियाओं की अपेक्षा भावना को ही महत्व दिया गया है, उन्हीं का उल्लेख किया गया है परन्तु यहां तो भगवान शारीरिक तप ही बतला रहे है। भावना सम्बन्धी यानी मानसिक तप तो बाद में बताएंगे, इसलिए हम इस श्लोक के कर्मों को शारीरिक दृष्टिकोण से ही लेंगे।

देवता, गुरुजन, विद्वान, ब्राह्मण आदि के प्रति श्रद्धा, भक्ति, आदर तो

रहना ही चाहिए पर केवल मन में आदर रहना काफी नहीं। वह शारीरिक स्तर पर भी उतरना चाहिए तब वह शारीरिक तप बनेगा। हमारे घर में जब गुरुजन आएं तो हम उनके पैर छूकर प्रणाम करें, भगवान की तस्वीर या मूर्ति के सामने शांत बैठकर पूजा करें, फूल चढ़ाएं, भजन गाएं। किसी भी महात्मा पुरुष या विद्वान के प्रति हम साधारणतः श्रद्धा तो रखते ही है। पर यह जरूरी नहीं कि हम मिलने पर उनके प्रति आदर सम्मान प्रदर्शित करें ही। हम उनकी ओर से बेपरवाह होकर भी गुजर जाते है। भगवान कहते हैं कि उनके प्रति आदर प्रदर्शित करना शारीरिक तप है।

शारीरिक तप की शृंखला में आगे है ब्रह्मचर्य और अहिंसा। ब्रह्मचर्य का अर्थ सभी इन्द्रियों का संयम और अहिंसा का अर्थ यहां अपनी देह के द्वारा किसी को तकलीफ न पहुंचाना है।

इनके अलावा दो और शारीरिक तप बताए गए है सरलता और स्वच्छता। हम दूसरों के साथ सम्पर्क करते है तो हमारे व्यवहार में कुटिलता और कपट न हो। व्यवहार में सरलता जब तक नहीं आएगी तब तक साधना भक्ति की बात सोचना ही मूर्खता है।

स्वच्छता के प्रति भी कई साधक उदासीन रहते है। विशेषतया तपस्वी समझे जाने वालों को तो हम पाएंगे कि वे जटाजूट बढ़ाए रहते हैं, वर्षों धोते नहीं, उनका शरीर कितने ही कीटाणुओं का घर बना रहता है। कुछ होते है जो कहते है- 'शरीर की सफाई में क्या रखा है मन साफ होना चाहिए मन।' कुछ को गंगा स्नान करने के लिए चलने कहो तो कहेंगे- 'अरे मन चंगा तो कठौती में गंगा।'

ऐसे लोगों को गीता के इस श्लोक से समझ लेना चाहिए कि भगवान की दृष्टि में बाहरी स्वच्छता एवं पवित्रता भी तप है। हमें अपने मन के साथ साथ शरीर और आसपास के वातावरण को भी स्वच्छ एवं पवित्र रखना चहिए।

अब वाणी का तप बतलाते हुए भगवान कहते हैं-

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वांग्मयं तप उच्यते ।।१५।।

जो उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकर एवं सत्य भाषण है तथा वेदशास्त्रों के पठन-पाठन का अभ्यास है उसे वाणी का तप कहते हैं।

वाणी मनुष्य को मिले हुए अनुपम उपहारों में सबसे महत्वपूर्ण है। यह बड़ा ही सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा मानव की बौद्धिक क्षमताएं, मानसिक और शारीरिक संयम प्रकट होता है या दूसरों तक पहुंचता है। शब्द तलवार की धार से भी तेजी से किसी को काट सकते हैं और शब्दों द्वारा किसी पर जादू भी डाला जा सकता है। वाणी के द्वारा हमारी उर्जा दिन भर बहुत अधिक मात्रा में खर्च होती है। इस उर्जा के अपव्यय को रोक कर इसका हम भली भांति सदुपयोग कर पाएं तो हमारी आध्यात्मिक सम्पदा में भी वृद्धि होगी।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम मौनी बाबा बन जाएं। आंखों और हाथ के इशारों से बातें करें। वाणी के रूप में हमें जो शक्ति ईश्वर ने दी है उसका सदुपयोग होना ही चाहिए। यह भी एक कला है जिससे बोलने वाले को भी लाभ होता है और सुनने वाले को भी। ऐसे में हमारे वचन साधारण वाक्य नहीं रहते, तप बन जाते हैं। भगवान इस श्लोक में हमें निर्देश दे रहे हैं- हम किन बातों की सावधानी रखें कि हमारा बोलना भी तप बन जाए, अर्थात् हमारे अंतकरण की शुद्धि का साधन बन जाए। पहली बात तो यह देखने की है कि हमारी वाणी से किसी को उद्वेग न हो, धक्का न लगे, उत्तेजना न हो। हमारी वाणी उद्वेग उत्पन्न कर रही है या नहीं, यह पहचानना मुश्किल काम नहीं। श्रोता के चेहरे के भाव हमें स्पष्ट बता देगें कि हमारी बातों की उसके हृदय में क्या प्रतिक्रिया हो रही है। लेकिन हम प्रायः आंखें बन्द करके बोलते हैं या बोलते समय अन्धी आंखों से देखते हैं। अपनी कड़वी और तीखी जबान के कारण हम बहुधा अपने अच्छे-अच्छे मित्रों को खो बैठते हैं, दुश्मनों की कतार लगा लेते हैं। इससे न हमें इस जीवन में चैन मिलता है न परलोक सुधरता है।

कड़वी जबान से दूसरे को उद्वेग होता है तो झूठ से अपने आपको। आधुनिक यन्त्र भी बने हैं झूठ की पहचान करने के, वे भी इसी के सहारे पकड़ते है कि वक्ता झूठ बोलता है कि सच। इसलिए सत्य भाषण करना

चाहिए पर इस सत्य के साथ दो शर्तें भगवान ने लगा दी है। १. सच हो पर कड़वा नहीं, ऐसा जो प्रिय लगे २. वह सच हितकारी भी हो। उदाहरण स्वरूप यदि हम किसी टूटी टांग वाले को 'ऐ लंगड़े' कह कर सम्बोधित करते हैं तो यह उद्वेगकारी वाणी है। यदि हम किसी दूसरे व्यक्ति के साथ वार्तालाप में 'वह लंगड़ा लड़का' बार-बार कहते हैं तो यह अप्रिय सत्य है जिससे हमारे स्वभाव की संवेदनहीनता और रूखापन झलकता है। इसके बदले हम अपंग शब्द का व्यवहार करें तो वह अप्रिय नहीं लगेगा। और इससे भी ऊंची बात यह होगी कि हम उस बालक के गुणों की चर्चा ही करें और इस प्रकार करें कि अपंगता की बात अधिक नहीं उभरे तो यह प्रिय भाषण होगा।

वाणी का सत्य और प्रिय यानि मधुर होना ही पर्याप्त नहीं यह हितकारी भी होना चाहिए। हम बहुत सी बातें अपने मित्रों के साथ ऐसी करते हैं जो सच होती है, सुनने वाले को भी मजा भी आता है पर उससे किसी को कोई फायदा नहीं होता। हमारे ये वचन सत्य, प्रिय किन्तु निरर्थक है। ऐसी व्यर्थ बातें करना अपनी वाक् शक्ति का दुरुपयोग है। और इन उलजलूल बातों से बचना भी वाणी का तप है। कभी-कभी हम अपने मित्र को कुछ ऐसी बात बता देतें हैं जो सत्य है, सुन कर वह समझता है कि हमने उसका उपकार किया किन्तु इस बात के कारण उसकी अपने भाई से ऐसी शत्रुता हो जाती है कि वह उसकी जान लेने पर उतारू हो जाता है। हमारे ये वचन सत्य प्रिय किन्तु अहितकारी है और ऐसी बातें न करना भी वाणी का तप है। यदि ऐसी स्थिति आए तो कुछ बोलने के बदले मौन रखना चाहिए ।

यदि हम इन सिद्धान्तों पर अमल करने लग जाए तो हम पाएंगे कि हमारी वाणी को बहुत कम काम रह गया है। अनेकों स्थान पर हमें कहने लायक कोई बात नहीं मिलेगी। अनेकों स्थान पर हमें बलात् मौन धारण करना पड़ेगा। इस प्रकार जो शक्ति और समय बचा या यूं कहें कि खालीपन आया उसमे हम क्या करें? भगवान बताते हैं कि अपनी शक्ति का उपयोग शास्त्रों के अध्ययन तथा अभ्यास में करें तो उनके दरबार में तपस्वी माने जाएंगे। परनिन्दा के स्थान पर भगवन्नाम का उच्चारण हमारे जीवन को आश्चर्यजनक रूप से बदल सकता है। वाणी का तप हम सबके लिए सबसे अधिक सुलभ साधना है। इसके लिए किसी साधन, वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति की आवश्यकता

नहीं केवल निज संयम चाहिए।

अब मन का तप बताते हुए भगवान कहते हैं-

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रफुल्लता (प्रसाद), सौम्यता, मौन, आत्म सयंम, पवित्र भावनाएं- ये सब मानसिक तप हैं।

इस श्लोक में पांच जीवन मूल्य बताए गए हैं। ये मानसिक तप हैं और इनका फल हमें इसी जीवन में मिलेगा।

मनः प्रसाद :- मन दो प्रकार से खुश होता है। एक तो जब उसकी कामना पूरी हो जाती है और दूसरे तब जब उसे अपने जीवन, अपने वर्तमान से ऐसी संतुष्टि होती है कि उसे और किसी वस्तु की चाह ही नहीं होती। इस दूसरी प्रकार की खुशी को ही मन का प्रसाद कहते हैं। प्रसाद शब्द विषाद का विपरीतार्थक है। मन कामनाओं का स्थान है। कभी एक वस्तु की कामना, कभी दूसरी वस्तु की कामना मन को हर वक्त अस्थिर अशांत और चंचल बनाए रखती है। इनकी तादाद इतनी ज्यादा होती है कि हमें लगता है- जब तक जीवन है इन अभावों को, इन समस्याओं को ढ़ोना ही पड़ेगा। अब तो मरने पर ही चैन मिलेगा। यह विषाद की स्थिति है लेकिन जब हम अपनी स्थिति को जैसी है वैसी, उसी रूप में स्वीकार लेते हैं और अपनी भावनाओं की धारा को संसार की ओर न बहने देकर भगवान की ओर मोड़ देते हैं तो संसार में रहते हुए भी हम सांसारिक वस्तुओं के मिलने न मिलने की स्थिति में सम रह पाते हैं। एक बालक गुब्बारा पाकर खुशी से झूमने लगता है और उसके फूट जाने पर जोर जोर से रोता है लेकिन हमारे लिए गुब्बारे का कोई महत्व नहीं होता। संसार को हम अतिशय महत्व देते हैं। इसे महत्व देना बंद कर दें तो मनः प्रसाद की प्राप्ति होगी।

सौम्यत्वं :- मन का प्रसाद हमारे व्यवहार और व्यक्तित्व की सौम्यता में झलकता है। जिसे किसी से कुछ पाने की अभिलाषा नहीं वह करोड़पति

को देखते ही कुर्सी से उछल कर उसके चरण नहीं पकड़ेगा और धनहीन मित्र को सामने पाकर 'मूड ऑफ' नहीं करेगा। सबके प्रति सद्भाव, सबके प्रति करुणा, सबके लिए प्रेम ये सब गुण मिल कर व्यक्तित्व को सौम्य बनाते हैं।

मौन :- साधारणत: मौन का अर्थ हम न बोलना समझते हैं लेकिन भगवान कृष्ण ने गीता में अनेकों शब्दों की परिभाषाएं बड़े क्रांतिकारी रूप से प्रस्तुत की है। यदि मौन का अर्थ मुंह से न बोलना ही होता है तो वे मौन का उल्लेख वाणी के तप में करते। लेकिन मन के तप में मौन शब्द का व्यवहार कर वे हमें बताते हैं कि वे मौनी किसे समझते हैं। हम चुपचाप पड़े भी रहते हैं तो हमारा मन लगातार बोलता ही रहता है। कभी माता-पिता की शिकायत करता है, कभी भाई-बहन की। कभी मित्रों की निन्दा करता है कभी हमें ही निकम्मा, कायर, डरपोक, बुजदिल कह कर धिक्कारता है। मन की इस बक-झक के पीछे होती है हमारी कामनाएं, हमारी पसंद, ना पसंद, राग, द्वेष, मोह, लोभ इत्यादि। मन न बोले यदि मन में राग द्वेष न रहे। ऐसा मौनी ही मुनि है।

आत्म संयम :- उपरोक्त गुण तब तक नहीं आ सकते जब तक हम आत्म संयम न करे। कुछ लोगों का जीवन तो घनघोर रूप से असंयमित होता है। जो चाहे खाना, जो चाहे करना, जो चाहे बकना। यह तो पशुवत् जीवन है ही, कालान्तर में नारकीय स्थिति की सृष्टि करता है, किन्तु साधारण व्यक्तियों में भी जो संयम होता है वह मजबूरी के कारण। खाने के लिए हम ललचते नहीं क्योंकि हमारा शरीर बिलकुल बर्दाश्त ही नहीं कर पाता, तुरन्त रोगी हो जाता है या फिर हमारे पास भांति-भांति के पकवान के लिए धन नहीं होता। ऐसी स्थिति में भी अनुशासन रख पाए तो बहुत बड़ी बात होगी परन्तु भगवान तो यहां तप की बात कर रहे हैं। गीता कहीं भी अभाव की प्रतिक्रिया को महिमा मंडित नहीं करती। हमारा संयम हमारे ही द्वारा लागू किया गया हो, डाक्टर या अर्थाभाव या किसी अन्य प्रतिकूलता के द्वारा थोपा हुआ न हो। हमारे पास वस्तुओं भोगों को पा सकने, भोगने की सामर्थ्य हो पर हम भोग में लिप्त न हों क्योंकि हमारा मन उन्हें महत्व ही नहीं देता। तब हम आत्मसंयमी कहलाएंगे।

भाव संशुद्धि :- आत्मसंयम तब तक संभव नहीं जब तक हमारे भाव पवित्र न हों। हमारा मन अपवित्र विचारों को महत्व देना तभी बंद करेगा जब उसे पवित्र विचारों की प्राप्ति होगी। अपने भाई के प्रति स्नेह और करुणा ही हमें जमीन जायदाद के लोभ और उसके कारण होने वाले झगड़ों से बचा सकती है।

इस प्रकार उपरोक्त तीन श्लोकों में क्रमशः शरीर वाणी और मन का तप भगवान ने इस प्रकार बताया है मानो कह रहे हों- तुम भी तपस्वी हो सकते हो। तपस्या करने के लिए तुम्हें संसार छोड़ हिमालय की कन्दराओं में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं इन बातों को कोई महत्व नहीं देता। यदि तुम इस संसार में रह कर अपने शरीर, वाणी और मन को संयमित रख पाओ तो तुम मेरी दृष्टि में महान तपस्वी हो, मुनि हो।

उपरोक्त तीनों प्रकार के तपों में हर प्रकार का तप तीन श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है। सर्वप्रथम सात्विक तप के विषय में बताते हुए भगवान कहते हैं

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।।१७।।

फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किए गए तीन प्रकार के तप को सात्विक तप कहते हैं।

मन कर्म वचन द्वारा किए गए तपों को सात्विक तप की श्रेणी में तभी रखा जा सकता है जब वे फल की आशा न रखते हुए परम श्रद्धा से किए जाएं। हम कर्म करें। गुरुजनों, महात्माओं का पूजन सत्कार करें, अपने शरीर को संयमित रखते हुए दूसरों को पीड़ा न पहुंचाए। इन सबके पीछे भावना यह न हो कि लोग मुझे भला आदमी समझें और उसका मैं लाभ उठा लूं। भावना यही रहे कि मुझे यह नर तन मिला है जो विविध क्षमताओं से पूर्ण है तो इसका मैं सदुपयोग करूं ताकि परमपिता प्रसन्न हों।

इसी प्रकार मीठे, सत्य, हितकारी वचनों को उच्चारित करते समय

भी भावना चाटुकारिता की न होकर यही रहे कि वाणी द्वारा भी किसी का हित कर पाऊं तो यह मेरा सौभाग्य है। इस जगत को मैं कन्हैया की मुरली की भांति लुभा पाऊं, उन्हें प्रेम की राह दिखा पाऊं तो मेरा जीवन धन्य हो जाए।

मन को भी संयमित करें, सौम्य व्यवहार करें, उत्तेजना प्रकट न करें तो केवल किसी विशेष फल प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं। किसी को कोई समान बेचना हो तो व्यक्ति जली कटी सुनाता भी है तो हम रोष पूर्ण प्रतिक्रिया नहीं करते। अन्दर से मन तो होता है कि सामने वाले का सिर तोड़ दें, किन्तु मन को पूर्ण संयमित रख, सौम्यता धारण करते हुए चेहरे पर मुस्कान का मुखौटा लगाकर 'जी सर, राइट सर' कहते रहते हैं। यह संयम, यह सौम्यता, फल की आशा के कारण धारणा की हुई होती है और क्षणिक होती है। सात्विक संयम तो हृदय की पवित्रता से उपजता है और फल विशेष के लिए नहीं होता। फल की इच्छा हो तो मनः प्रसाद और मौन तो संभव ही नहीं।

अब राजसिक तप के विषय में बताते हुए भगवान कहते हैं-

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

सत्कार, मान, पूजा प्राप्त करने के लिए दम्भपूर्वक किया गया तप राजसी कहलाता है जो इस लोक में अनिश्चित और क्षणिक होता है।

बहुधा हम मन, कर्म, वचन का जो तप करते हैं, परोपकार, संयम आदि वर्तते हैं, मन को शांत, सौम्य रखते हैं, मीठी और हितकारी (मालूम देने वाली) वाणी बोलते हैं, उसका उद्देश्य कुछ न कुछ प्राप्त करना होता है जैसा पिछले श्लोक में 'जी हां' कहते रहने वाले सेल्समेन के उदाहरण द्वारा बताया गया। सेल्समेन का तप अपनी वस्तु की बिक्री के लाभ के लिए होता है और इस तप का अभ्यास उतनी देर करता है जितनी देर उसकी स्वार्थ पूर्ति के लिए करना उसके लिए आवश्यक हो। बाहर निकलते ही सेल्समेन अपने खरीदार को गाली देने लगेगा और घर पहुंचने पर बचा खुचा

क्रोध अपनी पत्नी और बच्चों पर उतारेगा। इसी लिए इसका तप चलम् और अध्रुवम् यानी अनिश्चित और न टिकने वाला होता है।

राजस मनुष्य सत्कार, मान और पूजा के लिए तप करते हैं। हम जहां कहीं जाएंगे लोग तपस्वी या महात्मा मान कर हमारा सत्कार करेंगे, हमें ऊंचे आसन पर बिठाएंगे, हमारी शोभा यात्रा निकालेंगे। हमें श्रेष्ठ समझ कर हमारा मान करेंगे। जीते जी हमारा स्मारक बनवाएंगे, उस पर श्रद्धा भक्ति से जल, पुष्प, चन्दन चढ़ाएंगे। ऐसी कितनी ही इच्छाएं होती है जो भोग प्रिय व्यक्तियों से भी तप करवा देती है।

राजसी तप का और एक लक्षण है दम्भ। अन्दर से श्रद्धा भक्ति नहीं होती किन्तु दूसरों को दिखाने के लिए माला घुमाने लगेंगे, बहुत से लोग देख रहे हों तब तो अपने नौकर चाकरों आदि से बड़ी मीठी-मीठी बातें करेंगे वर्ना गाली गलौज किए बिना पुकारेंगे नहीं।

इस श्लोक में भगवान ने ऐसे तप के लिए 'इह' पद का प्रयोग किया है। यह तप भी अनिश्चित और क्षणिक होता है तथा इसका फल भी सीमित और इस लोक में ही मिलने वाला बताया गया है। तात्पर्य यह है कि ऐसे तप का कोई दूरगामी या पारमार्थिक फल नहीं मिलता। इनका दूरगामी बुरा फल भी नहीं बताया क्योंकि ऐसे तप करने वाले किसी दूसरे के प्रति दुर्भावना से नहीं करते, वे तो केवल स्वयं की प्रशंसा चाहते हैं।

दुर्भावना के साथ किया गया तप तो तामसी होता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।१९।।

जो तप मूढ़ता (हठ) पूर्वक अपने को पीड़ा देकर या दूसरों को कष्ट पहुंचाने के लिए किया जाता है वह तामस तप कहलाता है।

तमस में मूढ़ता की प्रधानता रहती है, प्रमाद का साम्राज्य रहता है अतः जो करना चाहिए वह तो समझ आता नहीं जो न करना चाहिए वह करते रहते हैं। यहां तो भगवान ने दो प्रकार के तामसी तप बताएं है। पहली

प्रकार का तप वह है जो मूढ़ता यानी मूर्खता और हठ पूर्वक किया जाता है जिसमें आपने आपको कष्ट मिलता है। किसी से सुन लिया और बात मन में जंच गई तो भरी दुपहरिया में धूनि जला कर बैठ जायेंगे या भरी सर्दी में खांसते-खांसते हुए भी नदी में स्नान करने को निकलेंगे। चाहे निमोनिया हो जाए लेकिन तप तो करना ही है। इस प्रकार निरर्थक अपने शरीर को कष्ट पहुंचाना भगवान को बिल्कुल पसंद नहीं। अतः वे तिरस्कार करते हुए ऐसे तप को तामसी बताते हैं।

दूसरी प्रकार का तामस तप वह है जो दूसरों को कष्ट पहुंचाने के लिए किया जाता है। आए दिन शराब पीकर झगड़ा आदि करने वाले गुण्डे क्षण-क्षण में किसी न किसी से बैर मोल ले लेते हैं और फिर सोचते हैं मुझे चाहे जो भी हो जाय पर उसके तो परिवार का खात्मा करके ही छोडूंगा। कम शारीरिक कष्ट नहीं उठाना पड़ता उन्हें, किन्तु तामसी तप है यह, जिसकी गति अधम होती है। ऐसे मनुष्य स्वयं कष्ट भी पाते हैं और तिरस्कार पूर्ण दृष्टि से भी देखे जाते हैं।

यज्ञ और तप के बाद अब भगवान तीन प्रकार के दान की चर्चा करते हैं

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।२०।।

दान देना कर्तव्य है- ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर अनुपकारी को दिया जाता है वह दान सात्विक कहा गया है।

दान देना मेरा कर्तव्य है, यह तो मुझे करना ही चाहिए इसलिए मैं कर रहा हूं। इस सृष्टि और समाज से मुझे अनेकों चीजें प्राप्त होती है जिसमें मेरा पुरुषार्थ नहीं, अतः मेरा भी कर्तव्य बनता है कि अपने पुरुषार्थ द्वारा अर्जित वस्तु या धन का मैं दूसरों में भी वितरण करूं। यह भाव जिसका होता है वह दान करके इठलाता नहीं, सत्कार मान पूजा की अपेक्षा भी नहीं रखता।

भगवान कहते हैं कि सात्विक दान अनुपकारी को दिए जाने वाले

दान को कहते है। अनुपकारी का अर्थ उपकार को न मानने वाला अर्थात् कृतघ्न नहीं। इसका अर्थ यह है कि जिसने पहले कभी हमारा उपकार न किया हो, अभी भी न कर रहा हो और भविष्य में भी जिससे किसी प्रकार के उपकार की आशा न हो। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उपकार न करने वाले को ही देना चाहिए, उपकार करने वालों को नहीं। उपकार करने वाले की सेवा सहायता अवश्य करनी चाहिए पर यह प्रत्युपकार कहलाएगा, दान नहीं। भविष्य में उपकार की आशा रख कर दान देने पर वह दान राजसी दान हो जाएगा, सात्विक नहीं रहेगा।

तीसरी बात भगवान कहते है कि दान देते समय देश, काल और पात्रता का विचार रखना चाहिए। मूर्खता पूर्वक, हर कहीं, हर किसी को हर कुछ लुटाते हुए अपने को बड़ा दानवीर समझते रहना अपनी भूल है। किसी देश में किसी वस्तु का अभाव हो तो वहां वैसी वस्तु देनी चाहिए। जैसे कहीं अकाल पड़े, बाढ़ आए, रोग फैले तो वहां अन्न क्षेत्र खुलवाना, सहायता करना, चिकित्सा की व्यवस्था करना, दवाओं का वितरण करना देश के अनुसार दान देना है। इसी प्रकार काल का भी विचार होना चाहिए। जब सर्दी पड़े तो गरम कपड़े, कंबल आदि का दान करें, गर्मी के दिनों में प्याऊ की व्यवस्था करें तो यह काल के अनुसार दान करना है।

दान में पात्रता का विचार तो सबसे आवश्यक है। पात्रता का अर्थ यह नहीं कि ब्राह्मण को अनावश्यक दान दे देकर उसका घर भरते रहें और किसी गरीब भूखे को अछूत नीच मान कर दुत्कारते रहें। जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, जो उस वस्तु का सदुपयोग करेगा दुरुपयोग नहीं, वही पात्र है। वैसे व्यक्ति को दान देना ही सात्विक दान है। अब राजसी दान के विषय में बताते हुए भगवान कहते हैं:-

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।२१।।

प्रत्युपकार पाने के लिए या फल के उद्देश्य से अथवा क्लेश पूर्वक दिया जाने वाला दान राजसी माना जाता है।

हम तीर्थस्थलों में जाकर थैली खोल देते हैं जब कि अपने शहर में किसी भिखारी को कभी एक धेला तक नहीं देते- क्योंकि हम समझते हैं कि तीर्थ स्थान में देने से 'पुण्य' होगा। बहुत सरलता से स्वर्ग में हमारी सीट बुक हो जाएगी। हम ब्राह्मणों के कुल में पैदा हुए लोगों को भी इसीलिए भोजन करवाते हैं, दक्षिणा देते हैं क्योंकि हमारी धारणा है कि उन्हें दिया जाने वाला अन्न, वस्त्र हमारे पितरों को पहुंचेगा या हमें पुण्य होगा।

यहां पुण्य भावना से दिये जाने वाले दान की बात ठीक-ठीक समझना आवश्यक है वर्ना उपरोक्त व्यक्तव्य को पढ़कर लगेगा कि पुण्य कर्मों की निंदा की जा रही है। यदि पुण्य कर्म निंदनीय है तो क्या हमें वैसे कर्मों का त्याग कर देना चाहिए? पुण्य कर्म किसी भी दृष्टिकोण से निन्दनीय नहीं है। ऐसे कर्म तो करने ही चाहिए। हम जीवन में जो कुछ करते हैं उसे तीन श्रेणी में बांटा जा सकता है- निज भोग, लोक व्यवहार तथा पारमार्थिक कर्म। ये तीन क्रमशः तमस रजस और सत्व से जुड़े हुए हैं। तमस को अधिकाधिक सीमित रखते हुए, रजस के अनुसार व्यवहार करते हुए सत्व की वृद्धि करने का प्रयत्न करना और अंत में उससे भी ऊपर उठ जाना, यही मानव की परम गति है।

हमारा लोक व्यवहार उत्कृष्ट हो इसके लिए सत्व मिश्रित रजस की आवश्यकता है। यदि हम शत प्रतिशत स्वार्थी हो जाएं, जिसने हमारा भला किया या जिससे लाभ होने की आशा है उसके लिए ही पलक पांवड़े बिछाएं और अन्य की ओर आंख उठा कर भी न देखने की मानसिकता रखें तब भी हम व्यावहारिक जीवन में सफल नहीं होंगे। लोग हमें महाकंजूस और नीच समझकर हमसे कतराने लगेंगे और हम अपनी स्वार्थ पूर्ति तक नहीं कर पायेंगे। इसलिए उत्तम लोक व्यवहार का सुनहरा नियम है कि हम यह विचार दृढ़ता के साथ धारण कर लें कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा ही होगा, बुरा नहीं हो सकता और बुरे कर्मों का अच्छा फल होना संभव ही नहीं है। जिस सृष्टि में सब कुछ इतने नियमबद्ध तरीके से चल रहा है वहां किसी भी मामले में घोर अंधेरगर्दी चल ही नहीं सकती। लेकिन हमें किसी केस में अच्छे कर्मों का बुरा और बुरे कर्मों का फल अच्छा मिलता जान पड़ रहा है तो केवल इसलिए कि हम भूत भविष्य को जानते नहीं।

इस प्रकार भविष्य में सुफल की आशा से किया गया कार्य पुण्य कर्म है और यह हमें करना ही चाहिए। इससे लोक में हमारी छवि एक नेक व अच्छे इंसान की बनेगी, लोग हमसे व्यवहार रखना, व्यापार आदि करना पसंद करेंगे। इससे हम एक सफल व्यक्ति भी बनेंगे और ऐसा करते करते ही हममें सत्कर्म करने की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाएगी। समयानुसार जब कामनाएं कम होंगी तो यह प्रवृत्ति हमसे निष्काम सत्कर्म अर्थात् सात्विक कर्म भी कराने लगेगी। इसीलिए हमारे शास्त्रों में तीर्थ स्थानों, ग्रहण आदि के समय दान अदि का प्रावधान किया गया है। इनका फल इस जन्म में न बताकर अगले जन्म या परलोक में बता दिया गया ताकि हम निष्काम न भी हो पाएं तो निस्वार्थ कर्म करना तो सीखें। इसलिए प्रत्युपकार या अच्छे फल की आशा में किया गया कर्म त्याज्य नहीं है। इसे भगवान ने राजसी की श्रेणी में रखा है जो लौकिक फल दिलाता है। इसमें सत्व की मिठास घोलते जाएं तो यह परमार्थिक बनता जाएगा।

राजसी कर्मों के विवरण में एक बात भगवान ने बताई कि क्लेश पूर्वक दिया गया दान राजसी है। अक्सर ऐसा होता है कि दान पाने वाले को हम वास्तव में पसंद नहीं करते पर कोई मजबूरी अथवा लोक दिखावे के लिए देते हैं। इसमें अनिच्छा रहती है अत: क्लेश होता है। यह दान राजसी है क्योंकि निश्चित रूप से इसमें कुछ स्वार्थ सिद्धि की भावना होती है वर्ना हम क्लेश क्यों मोल लेते? इसका सबसे अच्छा उदाहरण उद्योगपतियों द्वारा नेताओं या राजनीतिक पार्टियों को दिया जाने वाला दान है। ये लोग सुपात्र नहीं, उद्योगपति अपनी हार्दिक इच्छा से देते भी नहीं। केवल भविष्य में 'काम आएगा' की भावना उनसे दिलाती है। बच्चों को पब्लिक स्कूल में दाखिला दिलवाने के लिए 'बिल्डिग फंड' में डोनेशन देना पड़ता है तब अभिभावकों को क्लेश बहुत होता है, फिर भी देने को तैयार रहते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि बच्चे का भविष्य बनाने के लिए इस स्कूल में दाखिला आवश्यक है।

अब तामसी अर्थात् त्याज्य दान के विषय में बताते हुए भगवान कहते हैं–

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

जो गलत स्थान और काल में, कुपात्र को, बिना सत्कार के अथवा तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह दान तामस कहा जाता है।

राजसी दान यदि उद्योगपतियों द्वारा दिया गया चन्दा है तो तामसी दान उनके द्वारा दी गयी रंगदारी। रंगदार आते हैं और पैसे मांगते हैं तथा कभी-कभी लोगों को उनसे कोई अनैतिक या गैर कानूनी काम करवाना होता है तब भी चुपके से उन्हें रुपए देते हैं। ये जानते हैं कि उनके द्वारा दिए गए रुपए शराब पीने, नशा करने, मौज उड़ाने के काम में आएंगे और इसके फलस्वरूप समाज के कुछ और लोग पीड़ा और क्लेश के भागी बनेंगे, फिर भी यह दान दिया जाता है। दान लेने वाले का सत्कार नहीं होता, उसके साथ बातें और व्यवहार कड़वा ही होता है, फिर भी यह दान दिया जाता है। यह तामसी दान है और यह सर्वथा त्याज्य है। इसके कारण हमारी लौकिक और पारमार्थिक हानि होती है, लाभ तो बहुत दूर की बात है। इससे दूसरों को भी क्लेश मिलता है और हमारा भी भला होने वाला नहीं।

स्मरण रहे कि भगवान ने कहीं यह नहीं कहा कि तुम सात्विक यज्ञ, तप, दान आदि करो और तामसी मत करो। उन्होंने तो सोलहवें अध्याय में एक बार बता दिया कि आसुरी की गति क्या होती है, दैवी यानी सात्विक की गति क्या होती है। इसके पहले भी चौदहवें अध्याय में उन्होंने सत्व, रजस और तमस के दीर्घकालिक फलों का विवरण दे दिया था। अब तो हम लोगों पर है कि अपने विवेक से काम लें और समझें कि हमारा सच्चा स्वार्थ स्वार्थी होकर जीने में है या नि:स्वार्थी होकर।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार की श्रद्धा के अनुसार विभिन्न प्रकार के यज्ञ, तप, दान आदि के बारे में जान लेने के बाद साधक की इच्छा होगी कि वह सात्विक कर्म करे, पूर्ण निष्कामता और नि:स्वार्थता के साथ यज्ञ, तप, दान आदि करे किन्तु पूर्ण नि:स्वार्थता और निष्कामता सम्भव नहीं होती। दूसरे का हित करने में अपना भी हित आ ही जाता है। इस प्रकार यज्ञ, तप, दान आदि पूरी तरह से निर्दोष नहीं हो पाते, हम अपनी ओर से कितना भी

प्रयत्न करें। दूसरी बात यह है कि पूर्ण निष्कामता आ भी जाए तो वे कर्म अधिक से अधिक सात्विक ही होंगे। इनके साथ हम गुणातीत होकर पूर्ण मुक्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते, अतः अब भगवान अगले पांच श्लोकों में एक नयी बात बता रहे हैं जिसके द्वारा हमारे सब कर्म पूजामय बन सकते हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।२३।।

ॐ तत् सत् ये तीन ब्रह्म के निर्देश बताए गए हैं। इसी से आदि काल में ब्राह्मण वेद तथा यज्ञ की उत्पत्ति हुई।

परमात्मा के अनेक नाम हैं। वेदव्यास जी ने विष्णु सहस्त्र नाम में ही एक सहस्त्र नाम दिए हैं। हर नाम एक ही परमात्मशक्ति को निर्देशित करता है और प्रत्येक नाम विचारणीय है। एक-एक नाम के अर्थ को यदि हम जीवन में धारण कर लें तो हमारा जीवन सुन्दर बन जाए।

उदाहरण स्वरूप भगवान का कृपासिन्धु नाम लें। वे निश्चित रूप से कृपा के अथाह सागर है यह बात जीवन में दृढ़ता के साथ धारण कर ली जाए तो हमें अनुकूलता में ही नहीं प्रतिकूलता में भी उनकी करुणा नजर आने लगेगी। हम सोचेंगे कि मेरी बहुत आसक्ति थी परिवार और वस्तुओं में। भगवान इस आसक्ति से मुझे मुक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम कुछ यज्ञ दान तप आदि शुभ कर्म कर रहे होंगे तब भी यह विचार रहेगा कि कृपालु प्रभु ने अत्यन्त कृपा कर के मुझे किसी सत्कर्म का माध्यम बनने का सौभाग्य दिया है। इस प्रकार न दुख हमें व्याकुल कर पाएगा न यश हमें अहंकारी बना पाएगा। हमारे जीवन में समता आ जाएगी। इस प्रकार सुख दुख से छूटना ही मोक्ष है।

उस काल में परमात्मा को निर्देशित करने के लिए जितने नाम प्रचलित थे उनमें ॐ तत् सत् ये तीन मुख्य थे। अतः भगवान ने इन तीनों नामों को ही गिनाया है। तीनों का अत्यन्त सूक्ष्म और गहन अर्थ है जिनका विवेचन

भगवान आगे करेंगे। कर्म करते समय इन नामों का उच्चारण हृदय से करते रहें तो कर्म निर्दोष हो जाएंगे। जो सात्विक कर्म नहीं है वे भी सात्विक बन जाएंगे। भगवान कहते हैं कि ये तीन नाम उस ब्रह्म को निर्देशित करते हैं जिससे ब्राह्मण, वेद और यज्ञ की सृष्टि हुई है। ब्राह्मण यज्ञ कर्म करने वाले का प्रतीक है, वेद यज्ञ कर्म के विधान का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि यह जो जड़ चेतनमय सृष्टि हम देख रहे हैं जिसमें सभी सजीव-निर्जीव परस्पर एक दूसरे का पोषण कर रहे हैं उस सृष्टि का कर्ता, कर्मविधि और कर्म सभी कुछ उसी के स्वरूप, उसी की शक्ति है। यह बात समझ में आ जाए तो न कर्तापन का अभिमान रह सकता है न भोक्तापन की कामना या लाचारी। कर्म दोषपूर्ण तो तभी बनते हैं जब हम सोचने लगते हैं- 'मैंने कितना महान कार्य किया, मेरे बराबर कौन है,' या फिर- 'मैंने यह कर्म किया है इसका अमुक फल मुझे मिलना चाहिए।' यह कर्ता भोक्ता भाव समस्त दोषों की जड़ है किन्तु कर्म करते समय परमात्मा का नाम लेते रहें- मुख से नहीं हृदय से, तो ये भाव रहेंगे ही नहीं। फिर कर्म राजसी और तामसी हो ही नहीं सकते क्योंकि राजसी कर्म तो कर्तापन के भाव से जुड़ा होता है और तामसी कर्म भोक्तापन से।

अब भगवान एक-एक पद का विवेचन कर रहे हैं। सबसे पहले ॐ के प्रयोग की बात बताते हुए भगवान कहते हैं:-

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।

इसलिए वेद का कथन करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत की हुई यज्ञ, दान तप की क्रियाएं ॐ के उच्चारण से प्रारम्भ होती है।

भगवान, परमात्मा, ब्रह्म, खुदा, अल्लाह, गॉड आदि जितने नाम हैं वे सब एक ही के नाम हैं और ॐ भी उसी के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु इसकी अनेक विशेषताएं हैं जिसके कारण वैदिक ऋषियों ने इसे अपनाया। इसका उच्चारण मात्र ही शरीर मन बुद्धि पर भौतिक प्रभाव भी डालता है

जिससे इन तीनों की ट्यूनिंग होती है, ये परस्पर मेल पूर्वक काम कर पाते हैं। ॐ का उच्चारण अ, उ, म और चन्द्र बिन्दु चारों अवस्थाओं- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था के प्रतीक हैं, ऐसा हमारे ऋषियों ने मत दिया है। इसीलिए जैसे भगवान कहने से हमारे मन में भाव आता है कि वे सबसे बड़े, सबसे महान, हम सबको देखने वाले, हमारा पोषण करने वाले हैं, वैसा भाव ॐ के उच्चारण के समय नहीं आता। तब यह भाव रहता है कि जो शक्ति अखिल ब्रह्माण्ड में, चारों अवस्थाओं में एकाकी रूप से विद्यमान है मैं भी वही हूं। तब जीव भाव लुप्त होकर ब्रह्म भाव आता है। मैं जीव नहीं ब्रह्म हूं। जीव भाव न रहे तो कर्तापन का भाव रह नहीं सकता। तब यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओं की संशुद्धि अपने आप हो जाएगी। यही कारण है वेद में इन क्रियाओं में बोले जाने वाले मंत्र ॐ के उच्चारण से आरम्भ होते हैं। ब्रह्म का स्मरण कर अपने जीव भाव की गठरी अपने सर से उतार फेंकी- आप जो चाहे कीजिए, आपके कर्म अपवित्र या दोषमय हो ही नहीं सकते क्योंकि करने वाले आप रहे ही नहीं, वह तो परमात्मा ही है।

अब तत् के प्रयोग के बारे में बताते हैं:-

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।।२५।।

तत् के उच्चारण के साथ फल को लक्ष्य न रखने वाले मोक्ष के आकांक्षी पुरुष यज्ञ, तप, दान, आदि विविध क्रियाएं करते हैं।

तत् का अर्थ है वह। वह यानी परमात्मा। वेदों में एक वाक्य है जिसे महाकाव्य कह जाता है- तत् त्वमसि अर्थात् वह तुम हो। इसमें तत् शब्द परमात्मा का, त्वम् शब्द जीव का और असि शब्द दोनों की एकरूपता का बोध कराता है। अतः जब हम तत् शब्द की महत्ता को भली भांति हृदय में धारण कर इसका उच्चारण करेंगे तो हमारे मन में यह भाव आएगा कि सारे जीव तो वही है। वही परमात्मा है। जब सब कुछ वही-वही नजर आने लगेगा तब बाकी कुछ पाना रह क्या जाएगा!

भगवान कहते हैं कि फल को न चाहकर मोक्ष को चाहने वाले पुरुष अपनी समस्त क्रियाओं में तत् का उच्चारण करते हैं। उच्चारण करना वास्तव में अपने आप को बार-बार स्मरण दिलाना है। जब हम भगवान की महिमा भजनों के रूप में गाते हैं तो इससे भगवान को कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे मुगल बादशाह नहीं है जो अपनी प्रशंसा के गीत सुनने के लिए लालायित रहते थे और ऐसे गीत सुनाने वालों की झोली भर देते थे। भगवान की महिमा गाने से हमें याद आता है कि भगवान कितने कृपावान, कितने समर्थ हैं। तब हमारा प्रेम उनके प्रति बढ़ता है और संसार से हटता है। तब हमारे मन में उनको अपना 'सहारा' समझने की भावना पनपती है और हम संसार में पति, पत्नी, पुत्र, धन आदि में सहारा ढूंढ़ना बंद करते हैं। इस प्रकार हमारे भावों की संशुद्धि होती है।

जब किसी को दान देते हैं, उसे मिस्टर 'क' समझेंगे तो मन में आएगा कि इसका मैंने भला किया, इसे दान दिया तो समय आने पर यह मेरे काम जरूर आएगा। इस प्रकार दान की क्रिया के साथ फल की आकांक्षा जुड़ जाएगी, भोक्तापन का भाव आ जाएगा। किन्तु दान देने समय हमने तत् का उच्चारण किया। तुरंत ध्यान आ जाएगा कि यह वही है- वही परमात्मा। यह मिस्टर 'क' नहीं। मैं यह दान किसी भूखे-नंगे को नहीं दे रहा परमात्मा को अर्पित कर रहा हूं। तब प्रत्युपकार में किसी लौकिक फल की आकांक्षा नहीं रह पाएगी। हम किसी अभावग्रस्त व्यक्ति को कुछ देंगे तो उसका अभाव दूर होगा, वह अहसान मानेगा और उसे चुकाने की बात सोचेगा लेकिन 'उस' पर यानि परमात्मा पर हम क्या एहसान कर सकते हैं? वह हमारे अहसान का बदला क्या चुकाएगा? वह तो मोक्ष प्रदान कर सकता है। वह तो इन अहसानों के बदले की आकांक्षा से हमें मुक्त कर सकता है। अतः लौकिक फल की न रखकर मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुष सब कुछ करते समय तत् का उच्चारण करते हैं जिससे भोक्ता भाव की निवृत्ति होती है।

अब दो श्लोकों में सत् के विषय में बताते हुए भगवान कहते हैं:-

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म नैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

सत् का प्रयोग सत्य भाव में और श्रेष्ठ भाव में किया जाता है। हे पार्थ उत्तम कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

तप यज्ञ और ज्ञान में जो स्थिति (दृढ़ता) है वह भी सत् है और उस परमात्मा के लिए हुआ कर्म भी सत् कहा जाता है।

परमात्मा को सत् स्वरूप कहा गया है। सत् का अर्थ है सत्ता या सत्य। हर प्राणी की सत्ता परमात्मा के ही कारण है। सत्ता रूप से या कहें सार रूप से, वही परमात्मा सबमें विद्यमान है। वही समस्त जगत का सत्य है। सत्य वह होता है जो कल आज और कल बदले नहीं। जो मिथ्या होता है वह कल कुछ और हो सकता है आज कुछ और। हमें संसार का बाहरी रूप दिखाई देता है वह तो हमेशा एक जैसा रहता नहीं, इसलिए जगत को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य यानी ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या कहा गया है। जगत जैसा बोध में आता है वैसा वह यथार्थ में नहीं है। मेरी देह मिथ्या है कहने का मतलब यह नहीं कि देह है ही नहीं। देह है, पर मेरी वास्तवकिता यह नहीं, आत्मा है। इस प्रकार सत् शब्द से परमात्मा का निर्देश होता है।

भगवान कहते हैं कि सत् का प्रयोग श्रेष्ठता, साधुता का भाव प्रकट करने के लिए भी किया जाता है। जब कोई अच्छा कार्य करता है तो उसे सत्कर्म कहते हैं। परमात्मा भी सत् है और उसे पाने के लिए किया गया कार्य भी सत् है। जैसे केतली में चाय के लिए पानी उबालना भी चाय बनाना है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि श्रेष्ठ भाव के साथ यज्ञ, तप या दान किया जाए, उनके लिए मन में दृढ़ता का भाव रखें तो वह भी सत् है। ऐसे कर्म सत् हैं और बाकी जो किया जा रहा है वह सब असत् है क्योंकि इन कर्मों का फल सत् यानी नित्य है किन्तु बाकी कर्मों का फल अनित्य यानी असत् है।

इस प्रकार श्रद्धा पूर्वक किए गए कर्मों के बारे में बताने के बाद भगवान ने उसमें रह गयी त्रुटियों को दूर करने और उससे नित्य फल प्राप्ति

के लिए क्या करना चाहिए यह भी बता दिया। जब हम ॐ तत् सत् का उच्चारण करेंगे तो यह भाव आऐगा कि सब कुछ परमेश्वर है, मैं भी और संसार के प्रत्येक प्राणी भी और जो कुछ कर्म हो रहा है वह भी मंगल कारी है। इससे हमारी दृष्टि कल्याणकारी हो जाएगी, सबमें परमात्मा का मंगलमय विधान देखने लगेगी और संसार के प्रति राग द्वेष के कारण जो शिकवे, जो शिकायतें मन में उत्पन्न होती है वे सब दूर हो जाएंगी। हमें उन्मुक्तता का अनुभव होगा। हम अपने आनन्द के लिए किसी वस्तु व्यक्ति या परिस्थिति पर निर्भर नहीं रहेंगे।

गीता के भी हर अध्याय की समाप्ति के बाद ॐ तत् सत् कहने का तात्पर्य भी यही है कि हमारे पठन पाठन में कोई अशुद्धि या त्रुटि रह गई हो तो दोष मिट जाए।

अब इस अध्याय का उपसंहार करते हुए अंत में भगवान अर्जुन के बिना पूछे ही यह भी बता देते हैं कि जो लोग शास्त्र के शब्दों को मानते हुए यज्ञ आदि कर्म तो नियम पूर्वक कर लेते हैं पर उनमें श्रद्धा नहीं होती उनकी क्या स्थिति होती है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च सत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।२८।।

हे अर्जुन! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और किया हुआ शुभ कर्म है वह समस्त असत् कहा जाता है। वह न तो इस लोक में लाभदायक है न मरने के बाद ही।

हवन, दान, तप आदि अन्त:करण की शुद्धि और परलोक में अच्छे फल की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं तो इसलिए नहीं कि वह उस क्रिया विशेष का कोई सीधा फल मिलता है। यह बात वैसी सीधी नहीं कि हम दोनों हाथ मिलायेंगे तो आवाज होगी। इन कर्मों की फलदायिनी सामर्थ्य तो श्रद्धा के कारण है। श्रद्धा न हो तो कितने भी शास्त्रोक्त कर्म कर लें, विधान का कितना भी पालन कर लें सत् अर्थात् नित्य लाभ कुछ नहीं होगा। अत: ये सब कार्य शास्त्र सम्मत होते हुए भी असत् हैं।

हमारे बीच बहुत ऐसे हैं जो अपनी दैनिक पूजा या मंदिर जाने में बहुत नियमों का पालन करते हैं। सावन में सोमवार को शिव जी का व्रत करना ही चाहिए, उन्हें बेल पत्र चढ़ने ही चाहिए, आक का फल, धतूरा होना ही चाहिए। मंदिर में स्नान करके रेशमी वस्त्र पहन कर ही जाना चाहिए। इन सब विधानों के लिए जमीन आसमान एक कर देंगे। सारे काम नियम पूर्वक विधि विधान से करेंगे लेकिन इन सारी तैयारियों में, विधानों में, बेल पत्र, पुष्प, धतूरा आदि चढ़ाते समय भगवान के प्रति श्रद्धा की भावना मन में आएगी ही नहीं तो यह सब व्यर्थ है। इन्हें भगवान सत् कर्म तो दूर साधारण कर्म भी नहीं मानते, सीधे असत् कर्मों का तगमा पहना रहे हैं।

इस प्रकार भगवान ने बड़ी चतुराई से बता दिया है कि उनकी दृष्टि में तो श्रद्धा ही प्रमुख है। हम कुछ भी करें, भक्ति भाव और श्रद्धा के साथ करें तो छोटे से छोटा दान, तप, यज्ञ भी उत्तम फल देने वाला होगा। यदि विधानों कुछ त्रुटि रह गई हो तो ॐ तत् सत् यानी परमात्मा का श्रद्धापूर्वक नाम स्मरण करने से वह भी दूर हो जाएगी किन्तु श्रद्धा नहीं तो कुछ भी नहीं। भगवान कहते हैं कि अश्रद्धा के साथ विधान पूर्वक कर्म करने वालों को न तो मैं इस लोक में उत्तम फल देता हूं न परलोक में।

इस अंतिम श्लोक में भगवान ने एक अति आवश्यक संकेत दे दिया है कि हम शास्त्र विधानों की बारीकियों में उलझने के बदले ईश्वर के प्रति श्रद्धा रखें, उनका नाम स्मरण करता रहें और फल के प्रति निष्कामता रखें तो हमें अमृत फल की प्राप्ति होगी। श्रद्धा और नाम स्मरण बना रहे तो साधारण से साधारण कार्य, हमारे दैनिक कार्य कलाप उत्तम बन जाएंगे। इससे हमारा जीवन सुखमय भी बनेगा और कल्याण की प्राप्ति भी होगी। ईश्वरार्पण बुद्धि ही सहज रूप से मोक्ष दिलाने में समर्थ है। शास्त्र विधान का त्याग भी हो पर श्रद्धा सात्विकी हो तो हमें शुभ फल की प्राप्ति हो जाएगी।

इस प्रकार श्री कृष्ण अर्जुन संवाद मेंश्रद्धात्रय विभाग योग
नामक सत्रहवां अध्याय पूर्ण हुआ।
ॐ तत् सत्